ओ३म्
का मार्ग।
श्रीपाद दामोदर

[सरस्वती आश्रम ग्रन्थ माला संख्या ६

ओ३म्

कल्याण का मार्ग

लेखक—

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

[अग्नि सूक्त, वायु सूक्त, स्त्रियों के कर्तव्य, वैदिक सभ्यता, वैदिक वद्यशास्त्र, वैदिक रोगजन्तु शास्त्र, संस्कृत स्वयं शिक्षक आदि पुस्तकों के लेखक]

प्रकाशक—

राजपाल प्रबन्धकर्त्ता

आर्य पुस्तकालय लाहौर।

बाबा एजुकेशनल प्रैस, लाहौर।

प्रथमवार १०००] सन् १९१९ [मूल्य ≡)

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर लिखित स्वाध्याय के ग्रन्थ ।

आर्य भाषा (हिन्दी) में

(१) यजुर्वेद अ० ३६ । शान्तिकरण अध्याय । 'सच्ची शांतिका सच्चा उपाय ।' मूल्य आठ आना ॥)

(२) यजुर्वेद अ० ३२ । सर्व-मेध-यज्ञ । 'सर्व-पूज्यकी पूजा ।' मूल्य सात आना ।≶)

(३) यजुर्वेद अ० ३० । ३१ । नर-मेध । 'मनुष्यों की सच्ची उन्नति का सच्चा साधन ।'

(४) अग्नि-सूक्त । मूल्य चार आना ।)

(५) उत्तम ज्ञान । मूल्य एक आना -)

(६) अथर्व-वेद का स्वाध्याय । मूल्य एक रुपया १)

(७) संस्कृत स्वयं शिक्षक । प्रथमभाग । मूल्य सवा रुपया १।)

(८) „ द्वितीयभाग „ „

(९) „ तृतीयभाग „ „

(१०) अथर्ववेद का स्वाध्याय । प्रत्येक साधारण भाषा जानने वाला इस से अथर्ववेद के मर्म को समझ सक्ता है । आरम्भ में हरएक मन्त्र का विषय वर्णन किया गया है । उस के पश्चात् मन्त्र फिर उस का पद अर्थ, भाव अर्थ और व्याख्या की गई है । बहुत ही मनोरंजक है, आर्य्यसमाज के विद्वान् मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा कर रहे हैं । मूल्य सजिल्द पुस्तक १) रु०

(११) ईशोपनिषद् का स्वाध्याय । यह देखने में केवल ईशोपनिषद की व्याख्या है, परन्तु सब उपनिषदों का सार इस में आगया है । उपनिषदों की महिमा और रहस्य को समझने के लिए इस मनोरंजक पुस्तक का पाठ पढ़ना अति आवश्यक है । मूल्य ॥=) आने

मिलने का पता—

राजपाल—मैनेजर

आर्य्य पुस्तकालय, लाहौर ।

मन्त्रों की अनुक्रमणिका ।

—:○:—

विषयानुक्रमणिका ।

ओ३म्

भूमिका ।

अग्नि का धर्म उष्णता है, सूर्य का धर्म है प्रकाश करना, आकाश का धर्म है अवकाश देना, इसी प्रकार अन्य पदार्थों के अन्य धर्म हैं । जो जिस का धर्म होता है, वह उस से अलग नहीं हो सकता । उष्णता के विना अग्नि की कल्पना नहीं हो सकती, इसी प्रकार अन्य पदार्थों की उन के स्वाभाविक धर्मों के विना कल्पना नहीं की जा सकती ।

परन्तु मनुष्य के धर्म की वैसी बात नहीं । जैसे अपना उष्णता का धर्म अग्नि छोड़ नहीं सकता, वैसे मनुष्य के साथ रहने वाला कोई धर्म नहीं कि जो वह छोड़ नहीं सकता । पशु पक्षि, वृक्ष वनस्पति, सूर्य चन्द्र तारे, पृथिव्यादि पञ्चभूत, आदि सब पदार्थों के साथ उनका धर्म रहता है उन के स्वाभाविक और नैमित्तिक धर्म के नियम निश्चित हैं । उन के अन्दर परिवर्तन नहीं हो सकता । इसलिए उन की स्थिति स्वाभाविक नियमानुसार हो रही है । तथा उन की अच्छी या बुरी अवस्था के लिए वे ज़िम्मेवार नहीं हैं ।

मनुष्य की अवस्था वैसी नहीं । जो पाशवी वृत्ति है वह मनुष्य के साथ स्वाभाविक है । भूख प्यास, निद्रा जागृति, भय और कष्ट से डरना, मैथुन करना, मूत्र पुरीषोत्सर्ग करना आदि वृत्तियां पशु पक्षियों के अन्दर भी समान हैं । ये वृत्तियां शरीर धर्म के साथ रहने के कारण मनुष्य के अन्दर भी विद्यमान हैं । परन्तु यहां सोचने से पता लग जायगा कि मनुष्य का मनुष्यपन इन वृत्तियों के कारण नहीं है ।

कल्याण का मार्ग ।

जो मनुष्य धर्म है, वह विशेष प्रकार से धारण किया जाता है । पशु वृत्तियों के समान जन्म के साथ वह नहीं आता । यदि मानवधर्म मनुष्य के साथ उत्पन्न होता, तो उस के धारण करने के लिये, वेद शास्त्रों की उत्पत्ति न होती । सब शास्त्र मनुष्य के लिए ही उत्पन्न किए गये हैं । कोई शास्त्र पशु पाचि आदिकों के लिये नहीं है । जो पशु शास्त्र, वृत्त शास्त्र आदि हैं, वे भी मनुष्यों के लिए हैं, न कि पशु आदिकों के लिये। मनुष्य स्वतन्त्र होने के कारण उसका धर्म उस के साथ—अर्थात् स्वभाव के साथ—उत्पन्न नहीं हुआ । इसीलिये धार्मिकों के पास जाकर धर्म के ग्रन्थ अवलोकन करके, धर्म के धारण करने का पुरुषार्थ करना मनुष्यों के लिए आवश्यक है ।

शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, आत्मा आदि पदार्थ मनुष्य के अन्दर विद्यमान हैं । धर्म वह है कि जिस से इन का उत्कर्ष होता है । ये पदार्थ सब मनुष्यमात्र के अन्दर विद्यमान हैं । इसलिये सब मनुष्यों का धर्म एक ही हो सकता है । क्रिस्ती लोगों के अन्दर ही इन्द्रियां हैं अन्यों के अन्दर नहीं, मुसलमानों के अन्दर ही बुद्धि है अन्यों में नहीं, हिन्दुओं के अन्दर ही आत्मा है अन्यों के अन्दर नहीं, ऐसी बात नाहीं है । किन्तु सब मनुष्यों के अन्दर ये पदार्थ हैं, और इन की उन्नति करनी सब को अभीष्ट है । इसलिये इन की उन्नति के लिये जो २ साधन होंगे वे सब के लिए एक से ही हो सकते हैं । इस प्रकार विचार करने से पता लगता है कि, सब मनुष्यों का एक ही सत्य धर्म है । चूंकि मनुष्य समाज सनातन काल से चला आ रहा है, इसलिये उस की उन्नति का धर्म भी सनातन काल से चला आ रहा है, ऐसा मानना उचित ही है । आजकल जो२ अनेक नवीन पन्थ हैं वे सब मनुष्यों के अहङ्कार के कारण उत्पन्न हुए २ हैं, ऐसा विचार करने से प्रतीत होता है ।

आजकल जितने पन्थ विद्यमान हैं, वे सब किसी न किसी मनुष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं । परन्तु केवल एक वैदिक धर्म ही ऐसा है, जो किसी मनुष्य के नाम पर आश्रित नहीं । यह वैदिक धर्म सब पन्थों से प्राचीन है । जिस की उत्पत्ति का काल, अनेक विद्वानों के खोज करने पर भी, अब तक किसी को पता नहीं लगा। परन्तु इस में सब का एक मत है कि यह सब से प्राचीन है। यह धर्म अपने आप को " सनातन " कहता है। कई इस को वैदिक धर्म, शुद्ध धर्म, धर्म, मनुष्य धर्म, सनातन धर्म, आर्य धर्म इत्यादि नामों से पुकारते हैं । परन्तु एक व्यक्ति के नाम पर इस समय तक इस का सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। यही इस की विशेषता है।

वेद के अन्दर मन्त्र अनेक हैं और उन के अन्दर त्रिवृत ज्ञान भरा हुआ है। (१) आध्यात्मिक ज्ञान, (२) आधिभौतिक ज्ञान और (३) आधिदैविक ज्ञान इन तीनों ज्ञानों को मिलकर त्रिवृत ज्ञान कहते हैं । एक व्यक्ति के अन्दर शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, आत्मा आदि जो पदार्थ है, उन के विषय में जो कुछ ज्ञान हो सकता है, वह सब आध्यात्मिक शब्द से जाना जाता है। अनेक व्यक्तियों के समुदाय की उन्नति-अवनति का जो ज्ञान होगा, वह आधिभौतिक में आ जायगा। पृथिवी, आप, तेज वायु आकाश आदि सृष्टि के पदार्थों का सब ज्ञान आधिदैविक में आ जायगा। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध नित्य है :—

१ आध्यात्मिक

एक व्यक्ति १

२ आधिभौतिक

समाज, जाति देश, राष्ट्र सब प्राणि २

३ आधिदैविक

पञ्च महाभूत, सूर्य चन्द्रादि गोल, विद्युत् आदि अनन्त पदार्थ ३

ये तीनों वास्तव में निम्न लिखित प्रकार एक दूसरे के अन्दर हैं:—
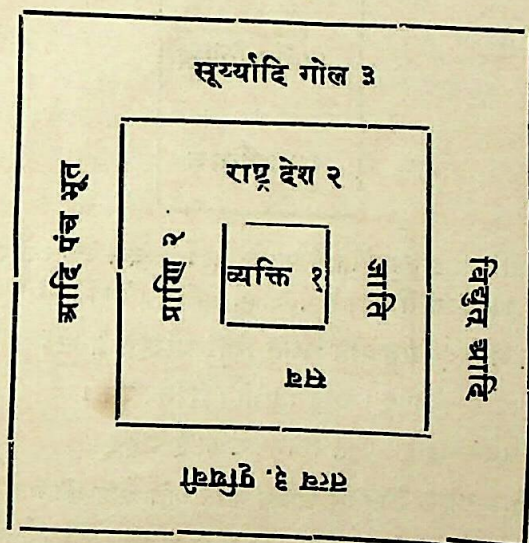
इस प्रकार एक दूसरे के अन्दर ये तीनों हैं, एक दूसरे के बाहर नहीं। यह बात विशेष ध्यान से देखनी चाहिए। इन का परस्पर सम्बन्ध अटूट है यह जानना वैदिक धर्म में अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक (Personal, Individual), आधिभौतिक (social, moral, national), आधिदैविक (cosmic) इन तीनों विभागों में मनुष्य के उन्नति का धर्म बांटा हुआ है। वेद के अनेक मन्त्र हैं कि जिन में ये तीनों भाव हैं, कई ऐसे हैं कि जिन में दो भाप हैं, और कई ऐसे हैं कि जिन में एक ही भाव है। प्राय: वेद मन्त्रों में आधिदैविक अर्थ प्रधान हुआ करता है, और बाकी के दोनों अर्थ उसी के अन्दर छिपे हुए रहते हैं

ओ३म्

कल्याण का मार्ग।

ओ३म्। इषे त्वोर्जे त्वा, वायवः स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु, श्रेष्ठतमाय कर्मण, आप्यायध्वमघ्न्या, इन्द्राय भागं, प्रजावतीरनमीवा, अयक्ष्मा, मा वः स्तेन ईशत, माऽघ शꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात, बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥

यजुर्वेद १।१॥

अर्थ

(१) (सविता देवः) त्वा इषे (प्रार्पयतु) = (जगत्स्रष्टा परमेश्वर। तुम को अन्न के लिए प्रयुक्त करे)।

(२) (सविता देवः) त्वा ऊर्जे (प्रार्पयतु) = (जगत्कर्ता ईश्वर) तुम्हें बल के लिए (उत्साहित करे)।

(३) सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु = सृष्टि का उत्पन्न कर्ता देव तुम (सब) को सर्वोत्तम कर्मों के लिए अर्पण करे।

(४) (यूयं) वायवः स्थ = (तुम सब) वायु-रूप हो। अथवा तुम गति रूप हो।

(५) (यूयं) आप्यायध्वम् = (तुम सब) बढ़ो।

(६) (यूयं) अघ्न्याः (स्थ) = (तुम सब) अहिंसनीय (हो)।

(७) (यूयं इन्द्राय भागं (नयत) = (तुम सब) श्रेष्ठ के लिए अपना भाग ले जाओ)।

(८) (यूयं) प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्माः (भवत) = (तुम सब) फलयुक्त, नीरोग और व्याधि रहित हो।

(९) स्तेनः वः मा ईशत = चोर तुम (सब) का स्वामी न हो।

(१०) अघशंसः (वः) मा (ईशत) = पापी तुम्हारा स्वामी न हो।

(११) अस्मिन् गोपतौ (यूयं) बह्वीः ध्रुवाः (भवत) = इस गोपति में (तुम सब) बहुत (तथा) स्थिर (हो जाओ)।

(१२) यजमानस्य पशून् पाहि = यजमान के पशुओं का रक्षण करो

इस प्रकार यह एक ही मन्त्र उक्त बारह वाक्यों द्वारा मनुष्य के अभ्युदय का उपदेश करता है। अब इन में से हरएक का अर्थ देखना हैं। इस में प्रथम वाक्य यह है :—

(१) अन्न।

(१) (सविता देवः) त्वा इषे (प्रार्पयतु)।

अर्थ—(सविता) सृष्टि उत्पन्नकर्ता (देव) ईश्वर (त्वा) तुम एक २ को (इषे) अन्न आदि इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिए (प्र-अर्प-यतु) विशेष प्रकार से अर्पण करे।

भावार्थ—ईश्वर तुम में से हरएक को इष्ट प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने में प्रेरित करे।

यह मन्त्र मुख्यतया आध्यात्मिक अर्थ प्रकाशित करता है। आध्यात्मिक अर्थ वह होता है। जिस में शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, आत्मा इन में से एक या अनेक का वर्णन हो। इस मन्त्र में इन्द्रियों का वर्णन है। आगे जाकर इसी मन्त्र में "इन्द्र और गोपति" ये दो शब्द जीवात्मा के वाचक आये हैं। गोपति शब्द का इन्द्रिय का स्वामी ऐसा अर्थ है। गो नाम इन्द्रिय का है। इन्द्र शब्द जीवात्मा का वाचक स्पष्ट है। इसी से इन्द्रिय (इन्द्र+इय) शब्द बनता है। इन्द्र का अर्थात् जो जीवात्मा का साधन होता है वह इन्द्रिय कहलाता है। अस्तु इस प्रकार यह मन्त्र आध्यात्मिक अर्थ स्पष्टतया बताता है, परन्तु अस्पष्टतया समाज, देश, राष्ट्र का भी अर्थ दता रहा है। जिस समय इन्द्र का अर्थ राजा और गो-पति का अर्थ पृथ्वी-पति ऐसा समझना उचित है। इस निबन्ध में प्रथम आध्यात्मिक अर्थ देकर पश्चात् आधिभौतिक (समाज-राष्ट्र) विष-यक अर्थ दिया है। और साथ २ अन्य वेद मन्त्रों के साथ तुलना भी की है। अब पहिले वाक्य का अर्थ देखिए:—

आध्यात्मिक अर्थ—हे इन्द्रिय! परमेश्वर तुम हरएक को अ-न्नादि इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के कार्य में प्रयुक्त करो।

इस वाक्य में "इष्" शब्द मुख्य है । इस का अर्थ:—"इच्छा, इष्ट, गति, वेग, अन्न, भोग्य, पेय, विश्राम, तृप्ति, सुख, वृद्धि, रस, तत्त्वशक्ति, समृद्धि, प्रयत्न" इत्यादि हैं । इस अर्थ की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की कृपा से हमारी इन्द्रियां योग्य हों तथा योग्य बनकर इन इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने में अपनी पराकाष्ठा तक पहुंचें । परमेश्वर की कृपा से हमारी इन्द्रियां योग्य बनकर, अपना २ कार्य करके अन्नपानादि इष्ट पदार्थों की समृद्धि करके तथा कष्टों को दूर करके उन्नति की प्राप्ति करने वाली हों ।

"सविता" शब्द का अर्थ "उत्पत्ति करने वाला और ऐश्वर्यवान्" ऐसा प्रसिद्ध है । (सु-प्रसव ऐश्वर्य योः) इस धातु से यह शब्द बनता है । कई इस का अर्थ जीवात्मा करते हैं । क्योंकि वह शरीर के साथ जन्म धारण करता है । शरीर के साथ प्रसव को प्राप्त होता है तथा उसी के कारण शरीर तेजस्वी, सौन्दर्य और ऐश्वर्य सम्पन्न होता है । यह अर्थ स्वीकार करने पर "जीवात्मा, हरएक इन्द्रिय को प्रेरणा करके हरएक को अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति करने के लिए पुरुषार्थ में प्रयुक्त करे" ऐसा भाव निष्पन्न होता है । दोनों भावों में "इष्ट प्राप्ति के लिए हरएक इन्द्रिय का प्रवृत्त होना" ही अभीष्ट है ।

प्रत्येक प्राणिमात्र की यह अभिलाषा रहती है कि मैं अपने इष्ट की प्राप्ति करूं । जो जिस को चाहता है वह उस का इष्ट होता है । भूख लगने पर अन्न इष्ट होता है, प्यास लगने के कारण पेय पदार्थ इष्ट बनते हैं, काम उत्पन्न होने से स्त्री इष्ट बनती है, शीत लगने से कपड़े इष्ट होते हैं, गरमी लगने से सर्दी इष्ट प्रतीत होती है, अकेलेपन का कष्ट दूर करने के लिए मित्र इष्ट होते हैं । रोग निवृत्ति के लिए वैद्य इष्ट समझे जाते हैं, इस प्रकार मनुष्यों के लिए समय २ पर भिन्न २ इष्ट हुआ करते हैं । और उन की प्राप्ति से सुख मिलता है ऐसा मनुष्य समझने लगता है

जिस की जिस समय न्यूनता होती है वह उस समय इष्ट बनता है और वही प्राप्तव्य समझा जाता है । जैसा शरीर में अन्न न रहने से अन्न की अभिलाषा होती है, शरीर में जल न्यून होने से प्यास लगती है । जब इन की प्राप्ति होती है उस समय उन का इष्टत्व भी समाप्त होता है। प्यास न लगने पर पानी की आवश्यकता नहीं, तथा भूख न लगी तो अन्न भी अभीष्ट नहीं होता । इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थों के विषय में जानना उचित है । यहां एक बात विशेषतया ध्यान में लानी चाहिए कि मनुष्य की अभिलाषाएँ कृत्रिम कारणों से भी बढ़ती हैं, और उस अवस्था में, जिन पदार्थों की वास्तव में आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, उन की भी आवश्यकता उस को प्रतीत होने लगती है । जैसाकि निकटाय लगानी शराब पीना आदि हैं । फैशन की सब बातें इसी में आजाती हैं । अस्तु

यदि मनुष्य की स्वतन्त्रता पर ही इष्ट पदार्थों का प्राप्त करना निर्भर रखा जाय तो कितने अनावश्यक पदार्थों के लिए वह प्रयत्न करता रहेगा, इस का कोई नियम नहीं । खाने पीने के पदार्थों को ही लीजिये । शरीर की पुष्टि करने के लिए भक्ष्य, भोज्य, पेय पदार्थों की आवश्यकता है । परन्तु इस ने जिह्वा का गुलाम बनकर केवल स्वाद के लिए कितने पदार्थ बनाये हैं, जिन के सेवन करने से इस के पास नाना प्रकार की व्याधियां आती हैं, परन्तु उन की पर्वाह न करता हुआ, हरएक इन्द्रिय का गुलाम बन कर भोगों की वृद्धि करके अपने कष्टों को बढ़ा रहा है ।

यहां स्मरण रखना चाहिए, कि हरएक इन्द्रिय को इष्ट की प्राप्ति के लिए (अन्नादि भोगों की समृद्धि के लिए) पुरुषार्थ करने में अवश्य लगाना चाहिए, परन्तु इन्द्रियों का गुलाम बन कर इतना परवश नहीं बनना चाहिए, कि जिससे नाश तथा अवनति हो जाय ।

आधिभौतिक (सामाजिक)—परमेश्वर देव हरएक मनुष्य का अन्नादि इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ में प्रयुक्त करे ।

यहां "सविता देव" शब्द का "राजा" ऐसा अर्थ समझना उचित है । आगे जाकर " इन्द्र तथा गोपति " शब्द भी आधिभौतिक अर्थ में राजा का ही भाव बतायेंगे। " देव " शब्द का राजा ऐसा अर्थ प्रसिद्ध है। संस्कृत वाङ्मय में राजा के लिए देव शब्द का प्रयोग सहस्रों स्थानों पर आया हुआ है। सविता शब्द का " ऐश्वर्यवान् " ऐसा जो अर्थ ऊपर दिया है, वह राजा के पक्ष में लेना उचित है । इन अर्थों को लेने पर उक्त वाक्य का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है।

" ऐश्वर्य सम्पन्न राजा तुम में से हरएक को अन्नादि पदार्थों को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ में नियुक्त करे " अर्थात् प्रजा के प्रत्येक मनुष्य को राज ज्ञान प्रदान करके ऐसा योग्य बनावे और उस को ऐसा चलावे कि, वह अन्नादि भोग पदार्थों की प्राप्ति के लिए जो २ पुरुषार्थ करने आवश्यक हैं, उन को करने में सदा तत्पर रहे । राजा को उचित है कि, वह अपनी प्रजा के हरएक मनुष्य को ऐसा योग्य बनावे कि, प्रत्येक प्रजाजन आवश्यक भोगों को प्राप्त करने में समर्थ हो । व्यक्तिशः उन्नति होनी चाहिए। प्रत्येक पुर्ज़ा ठीक, योग्य और मज़बूत होना चाहिए यह भाव यहां है । प्रत्येक व्यक्ति इतना स्वातन्त्र्य रहे कि, वह अपनी उन्नति योग्य प्रकार से कर सके।

प्रत्येक शरीर में, प्रत्येक इन्द्रिय तथा राष्ट्र में, प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिशः उन्नति होनी चाहिए और प्रत्येक को इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करने के पुरुषार्थ में नियुक्त करना चाहिए । परन्तु ध्यान रहे कि भोगों में फंसना नहीं क्योंकि दूसरे वाक्य में कहा है :--

[२] बल।

(२) (सविता देवः) त्वा ऊर्जे (प्रार्पयतु)।

अर्थ-परमेश्वर तुम को (ऊर्जे) बल के लिए अर्पण करे।

भावार्थ-तुम में से हरएक को बल की वृद्धि के लिए उत्साहित करे।

यह वाक्य आध्यात्मिक (व्यक्ति विषयक personal) तथा आधिभौतिक (समाज विषयक social, moral) विषय में समान ही है। प्रत्येक इन्द्रिय बल को प्राप्त होवे तथा प्रत्येक मनुष्य बल प्राप्त करे। राष्ट्र में राजा की प्रेरणा से ऐसा प्रबन्ध हो, कि हरएक मनुष्य बलवान् और समर्थ बन सके। राष्ट्र का प्रत्येक मनुष्य शक्ति, बल, वीर्य, प्रभाव, शौर्य, पौरुष, पुरुषार्थ शक्ति, उत्साह, पुष्टि, जीवनशक्ति, प्राणशक्ति, विकास, विस्तार को प्राप्त होकर अपनी उन्नति करने में समर्थ बने। पूर्व वाक्य में कहे हुए भोग इसीलिए प्राप्त करने हैं, कि मनुष्य का बल बढ़े, इन्द्रियों की शक्ति बढ़े। जो भोगों में और इन्द्रियों के सुखों में मोहित होकर फंसते हैं उन का इस मन्त्र ने निषेध किया है। इसी प्रकार इष्ट भोग इकट्ठे करने कि जिस से इन्द्रियों की शरीर में और व्यक्ति की राष्ट्र में शक्ति बढ़ती रहे और कभी शक्ति क्षीण न हो। जो मनुष्य व्यसनों में फंस कर, दुर्व्यसनों के कीचड़ में अपने आप को फंसाकर, कुकर्मों में रमते हैं उन के कुकर्मों से उन की शक्ति क्षीण होती है। इसलिए ये सब कुकर्म नहीं करने चाहिए।

अच्छे कर्म भी बिना सोचे करने से हानि होती है। देखिए विद्याध्ययन करना अच्छा कर्म है। ज्ञान सब के लिए इष्टतम वस्तु है। उस

की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है । खास इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम नियत हुआ २ है । तथापि यदि कोई विद्योपार्जन में दिन रात रम जाय तथा खाना, पीना, व्यायाम, निद्रा आदि अत्यावश्यक बातों के लिए कोई समय न रखे तो उस का नाश होना निश्चित है । इसलिए सब बुरे व्यवहारों तथा दुर्व्यसनों को बिलकुल छोड़ कर उत्तम व्यवहार भी ऐसी व्यवस्था से करने चाहिऐं कि जिस से शरीर के प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति बढ़ती रहे तथा राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य का सामर्थ्य बढ़ता रहे।

पहिले वाक्य में सब भोगों को अपने पास करने की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति होना सम्भव थी, उस की मर्यादा इस द्वितीय उपदेश से हो गयी है । इसलिए इन दोनों उपदेशों का भाव यही निकला कि, "मनुष्य अपनी शक्ति और सामर्थ्य बढ़ाने के लिए वैसे भोग भोगे कि जिन से सामर्थ्य बढ़ता है । वैसे भोगों में न फंसे तथा किसी भोग में उतना न फंसे कि जिस से उस की शक्ति क्षीण होनी सम्भव हो"।
उक्त दो उपदेशों के साथ निम्न मन्त्र भी देखने उचित हैं :—

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय ॥

यजु० १३ । ३५ ॥

"अन्न, सम्पत्ति, सहन शक्ति, तेज, सामर्थ्य और सन्तानोत्पत्ति के लिए तुम (रमस्व) आराम लो "। तात्पर्य यह है कि आराम इसीलिए लेना है कि उस से इन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का उत्साह उत्पन्न हो। तथा :—

आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥२१॥
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥

यजु० १४

हे पृथ्वी ! "आयु तेज, कृषि, (क्षेम) आराम, विश्राम, (इषे) अन्न, बल, सम्पत्ति, पोषण इत्यादि के लिए तुम्हें (स्वीकार) करते हैं "। अर्थात् । पृथ्वी को प्राप्त करके इन गुणों को अपने अन्दर बढ़ा सकते हैं।

ये दो मन्त्र इन दो उपदेशों का प्रतिध्वनि है ।

उक्त दोनों उपदेशों द्वारा व्यक्तिशः उन्नति होगयी । परन्तु व्यक्ति की उन्नति होनी ही पर्याप्त नहीं है । व्यक्ति की कृतकार्यता समाज की उन्नति की कृतकार्यता में है। एक २ इन्द्रिय उन्नत होकर सब शरीर का बल, सौन्दर्य और तेज बढ़ता रहे । प्रत्येक इन्द्रिय इसलिए पूर्ण उन्नत होना चाहिए, कि उस की उन्नति से सब शरीर बलवान् बने । तथा प्रत्येक मनुष्य को इसलिए समर्थ बनना चाहिए कि, उस की समर्थता से सम्पूर्ण राष्ट्र शक्तिशाली बने । व्यक्ति की उन्नति समष्टि की बाधक कभी नहीं होनी चाहिए, परन्तु साधक होनी चाहिए । यही बताने के लिए इस मन्त्र में तीसरा उपदेश आया है :—

[३] कर्म ।

(३) सविता देवः, वः, श्रेष्ठतमाय कर्मणे, प्रार्पयतु ।

अर्थ–परमेश्वर, तुम को उच्चतम कर्म के लिए, अर्पण करे ।

भावार्थ–परमेश्वर तुम सब को सब से श्रेष्ठ कार्य में विशेष प्रकार से अर्पण करे ।

यह भी उपदेश आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों अर्थों के लिए समान है । यहां "वः" शब्द बहुवचन में है और कर्म एकवचन में है । जिस के कारण " अनेक व्यक्तियों का एक उच्च कर्म में अपने आप को समर्पित करने" का भाव इस उपदेश से व्यक्त होता है । शरीर में सब इन्द्रियां मिल कर अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आ-

त्मिक उन्नति के लिए जो २ श्रेष्ठ कर्म करने आवश्यक होंगे, उन को यथावत् करने के लिए अपने आप को समर्पित करें। तथा राष्ट्र में सब मनुष्य मिलकर राष्ट्रोन्नति के कार्य करने में जो श्रेष्ठ कर्म करने हों, उन के लिए अपने आप को समर्पित करें। यही आत्म-यज्ञ है। समष्टि के के लिए व्यक्ति की आहुति होनी है।

राष्ट्र में राजा ऐसा बर्ताव करे कि जिस से सब मनुष्य मिल जुल कर रहें और उच्चत्तम कर्मों में मिलकर कार्य कर सकें, और राष्ट्र की उन्नति का साधन बनें। इसी प्रकार जीवात्मा सब इन्द्रियों को ऐसा प्रेरित करे कि जिस से सब इन्द्रियां मिल जुल कर रहें, और उन्नति के उच्चत्तम कर्मों में एक मत से प्रवृत्त होकर, सब प्रकार की उन्नति का साधन करने में तत्पर होवें।

इस मन्त्र में कहा हुआ कर्म सब का आधार है। कर्म पर ही सब जगत् की स्थिति है। हाथ पांव जबतक कर्म करते हैं तबतक अच्छे रहते हैं। उन का कर्म बन्द होते ही उन की क्षीणता प्रारम्भ होती है। हरएक के विषय में यही बात है। कर्म बन्द होना ही नाश का दूसरा नाम है।

कर्मों के तीन भेद हैं। कर्म, अकर्म और विकर्म। जो व्यक्ति की समष्टि की अथवा दोनों की अवनति करने वाला होता है वह विपरीत कर्म विकर्म कहलाता है। विकर्म किसी को भी करना नहीं चाहिए। जिस से जिस की स्थिति होती है उस के लिए वह कर्तव्य अकर्म बनता है। जैसा स्नान भोजन व्यायाम आदि कर्तव्य एक व्यक्ति का अस्तित्व रखने के कारण होने से यह व्यक्ति के अकर्म हैं। जो करने पर कर्ता को ही लाभ पहुंचाने वाले होते हैं वे सब अकर्म कहलाते हैं। अ का अर्थ "अल्प, ईषत्" ऐसा है। छोटा कर्म, अल्प कर्म, केवल एक व्यक्ति

के लाभ के लिए जो कर्म किया जाता है इसे अकर्म कहते हैं। राष्ट्र दृष्टि से भी अकर्म हुआ करते हैं। राष्ट्र की कल्पना इसलिए बनी है कि उस के आश्रय से व्यक्ति का तथा सम्पूर्ण जनता का उत्कर्ष हो। जो राष्ट्रीय कर्म व्यक्तियों के व्यक्तिशः उन्नति के लिए सहायक न होते हुए सम्पूर्ण जनता के लिए भी लाभदायक नहीं होते, परन्तु राष्ट्र की स्थिति रखने के लिए पर्याप्त होते हैं, वे राष्ट्रीय अकर्म होते हैं। जैसाकि राष्ट्रीय संघ शक्ति बनानी, राष्ट्र की रक्षा करनी, व्यापार करके राष्ट्र को सम्पन्न बनाना इत्यादि राष्ट्रीय दृष्टि से अकर्म होते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति की स्थिति के लिए अकर्म अत्यावश्यक हैं, उसी प्रकार राष्ट्र की स्थिति के लिए भी राष्ट्रीय अकर्म अत्यन्त आवश्यक हैं। यद्यपि अकर्मों द्वारा कर्ता की स्थिति होसकती है, तथापि अकर्म करने से कर्ता की इति कर्तव्यता नहीं होती। हरएक की पूर्णता होने के लिए कर्म करने की आवश्यकता है। दूसरों का अभ्युदय करने में दूसरों को सहाय्य देना अर्थात् परोपकार करना कर्म है। जैसा इन्द्रियों का कर्म सब शरीर की उन्नति के लिए होता है, मनुष्य का कर्म राष्ट्र की उन्नति के लिए होता है, राष्ट्र का कर्म व्यक्ति का तथा सम्पूर्णजनता का उत्कर्ष करने के लिए होता है। यही कर्म है। दूसरों की उन्नति करने में अपने आप को समर्पण करना ही कर्म है।

विकर्म किसी को भी करना उचित नहीं। अकर्म अपनी स्थिति के लिए करना है। अकर्मों द्वारा अपनी स्थिति स्थिर करके प्रत्येक को कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार के "परोपकार रूप उच्चतम कर्म करने के लिए सब को मिल कर प्रयत्न करना चाहिए"। यह भाव इस मन्त्र के वाक्य का है। इस उपदेश की तुलना निम्न मन्त्र से कीजिये—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे। यजु० ४०।२

"इस संसार (इह) में कर्मों को करता हुआ ही (शतं समाः) सौं वर्ष जीने की (जिजीविषेत्) इच्छा करे । यह (एवं) इस प्रकार एक मार्ग है । (न अन्यथा) दूसरा कोई मार्ग नहीं । (कर्म न लिप्यते) मनुष्य में कर्मों से कलंक नहीं लगता "। अर्थात् कर्म करते हुए ही इस संसार में रहना चाहिए । कर्म त्याग का कोई मार्ग नहीं है । सत्कर्मों से बन्धन नहीं होता यह भाव ध्यान में रखकर अपने कर्तव्य कर्म करते रहने चाहिए । कर्म त्याग से नाश होगा तथा कर्मयोग से उन्नति होगी । तथाः—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि ॥ गीता २।

"कर्म करना तेरा अधिकार है । फल के ऊपर तेरा अधिकार नहीं । फल के हेतु से कर्म न करो तथा स्वार्थ के कार्य में ही संग न रखो ।

इस प्रकार तीनों उपदेशों में प्रथम व्यक्तिशः उन्नति करके पश्चात् संघशः उन्नति करने का उपदेश दिया है । व्यक्ति की भी उन्नति आवश्यक है तथा संघ-समाज की भी उन्नति आवश्यक है । उक्त दोनों उन्नतियों में प्रयत्न करने वाले मनुष्य अपने आप को किस स्वरूप में समझें यह उपदेश आगे वाक्य में आया है :—

[४] प्राण-गति ।

४) (यूयं वायवः स्थ ।

अर्थ—(यूयं) तुम सब (वायवः) प्राणरूप (स्थ) हो ।

भावार्थ—तुम शरीर रूप नहीं हो परन्तु प्राणरूप हो । तुम जीवन की शक्ति हो न कि तुम स्थूल शरीर हो ।

आध्यात्मिक अर्थात् शरीर के विषय में अथवा आधिभौतिक समाज के विषय में यह उपदेश समान ही है । शरीर के अन्दर जो २ इन्द्रियों के गोलक दीखते हैं, वे वास्तव में इन्द्रियां नहीं है परन्तु सच्ची इन्द्रियां जीवनशक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाली वायुरूप प्राणरूप अथवा जीवनशक्ति रूप हैं । जो आंख, नाक, कान मनुष्य के या किसी प्राणि के शरीर में दीखते हैं, वे उस इन्द्रिय शक्ति के कार्य करने के साधन हैं । इस लिए वास्तव में इन्द्रियां प्राणरूप हैं ।

तथा मनुष्य भी केवल स्थूल शरीररूप नहीं है प्रत्युत वह आत्मरूप या प्राणरूप है । जो मनुष्य शरीर के अन्दर अमर पदार्थ है वही वास्तव में मनुष्य है न कि यह मरण धर्मवाला शरीर मनुष्य है । शरीर एक साधन मात्र है, ऐसा मान कर साधन मात्र से ही उस को बरतना चाहिए ।

"वायु" शब्द का "गति" ऐसा भी एक अर्थ है । "वा-गति गन्धनयोः" इस धातु से वायु शब्द की सिद्धि होती है । जो गतिरूप होता है उस को वायु कहते हैं । प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति गतिरूप होने से उस को कई स्थानों पर वायु कहा है । प्राणिमात्र की सब इन्द्रियां गतिरूप हैं । इन्द्रियां दस हैं । पाञ्च ज्ञानेन्द्रियां और पाञ्च कर्मेन्द्रियां हैं । इस के सिवाय मन बुद्धि आदि अन्तर इन्द्रियां हैं । मन और बुद्धि की गति सुप्रसिद्ध है । पांच कर्मेन्द्रियां जो हाथ पांव आदि हैं, जबतक उन से कर्म लिया जाता है तबतक उन की निरोग अवस्था रहती है । जिस समय उन का कर्म बन्द होता है । उसी समय उन की कृशता प्रारम्भ होती है । अर्थात्–गति–कर्म पर ही इन का स्वास्थ्य है । कर्म हीनता अर्थात् गति रहित बनना ही नाश का एक नाम है । जो पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय हैं वे भी गतिरूप ही हैं । जिस समय बाहर से प्रकाश आंख में आता है,

शब्द कान में आता है अथवा नाक में सुगन्ध आता है, उसी समय उस २ इन्द्रिय के ज्ञान तन्तुओं में विलक्षण गति होती है । और यही गति है कि जिस के कारण पदार्थों का ज्ञान इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जीवात्मा को होता है । जिस समय इन्द्रियों के अन्दर के ज्ञान तन्तुओं में गति नहीं होती, उस समय कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् इन्द्रियां गति-रूप हैं यह बात सिद्ध है ।

इसी प्रकार मनुष्यों के अन्दर भी गति है । वही जीवन की कला है । सुस्ती, आलस्य इन के अन्दर गति मन्द होती है इसलिए उन के कारण मनुष्य का मनुष्यत्व घटने लगता है । जहां सामाजिक जीवन प्रबल है वहां हलचल अधिक है । जिस समाज में हलचल बन्द होती है, वह समाज प्रबल हलचल करने वाले पुरुषार्थी समाज के पीछे ही रहता है । इस से पता लग जायगा कि मनुष्य तथा समाज भी गति रूप ही है । गति, हलचल, गर्मी, पुरुषार्थ, ये शब्द एक विशेष भाव बताते हैं, कि जो मनुष्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक है ! सुस्ति, आलस, थंडा पड़ना, कर्म छोड़ना इत्यादि गतिहीनताओं से अथवा न्यून गति के कारण मनुष्य या मनुष्य समाज अवनत होता है । इसलिए जीवन की गतिमयता जो इस मन्त्र ने वर्णन की है, प्रत्येक को ध्यान में रखनी चाहिए । और हलचल का अर्थात् पुरुषार्थ का जीवन बना कर अपने आपको कृतकृत्य बनानां चाहिए ।

इस प्रकार कर्म या पुरुषार्थ करने का गतिमय स्वभाव इन्द्रियों का तथा प्रजाओं का है, ऐसा बता कर श्रेष्ठत्तम कर्मों के लिए उन को अवश्य अर्पण करना चाहिए ऐसा ध्वनित करके, ये सब पुरुषार्थ उन्नति के लिए ही हैं, ऐसा अगले उपदेश में बताया है:—

[५] वृद्धि ।

(५)—(यूयं) आप्यायध्वम ।

अर्थ—तुम वृद्धि को प्राप्त हो जाओ ।

भावार्थ—तुम सब मिल कर उन्नत हो जाओ, उत्कर्ष को प्राप्त हो जाओ, वृद्धि को प्राप्त हो जाओ ।

पूर्वोक्त चार उपदेशों में जो कुछ कहा है उस का तात्पर्य यही है। अन्न या भोग्य पदार्थ प्राप्त करना, तेज या बल बढ़ाना, उच्चतम कर्मों के लिए अपने आप को समर्पण करना, अपनी कर्ममयता अथवा गतिमयता जाननी ये चारों उपदेश तभी सार्थक हो सकते हैं कि जब इन सब का उद्देश्य उन्नति हो। उन्नति, वृद्धि और उत्कर्ष के लिए ही इन की प्रयुक्त करना चाहिए। भोग, बल, कर्म तथा पुरुषार्थी स्वभाव इन के सहाय से वृद्धि को प्राप्त होना चाहिए। यह उपदेश भी व्यक्ति और समष्टि में एक जैसा ही है। प्रत्येक इन्द्रिय की, प्रत्येक व्यक्ति की, तथा प्रत्येक समाज की वृद्धि, उन्नति, पुष्टी होनी चाहिए। नहीं तो भोग, बल और कर्म इन का अवलम्बन करके अवनत भी हो सकते हैं। जो मनुष्य भोगों में फंसते हैं, जो अपने बल को खुदगर्जी में ही लगा देते हैं, दूसरों का घात ही करने में अपना बल लगा देते हैं वे निःसंदेह अवनत होते हैं। ये लोग कर्म करते रहते हैं परन्तु उन की दिशा गिरने की ओर होती है न कि उठने की ओर। इसलिए भोग और बल को प्राप्त करके ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिस से वृद्धि तथा उन्नति होती रहे।

भगवान कणाद मुनि ने "यतो अभ्युदय-निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"। "जिस से उत्कर्ष (Prosperity) तथा निश्रेयस (Freedom Tranquility) प्राप्ति होती है वह धर्म है" ऐसा धर्म का लक्षण

किया है । उस में जो अभ्युदय का आशय है वही आशय यहां "आप्यायध्वम्" (तुम सब उन्नत हो जाओ) इस उपदेश ने बताया है । बढ़ने के लिए ही सब प्रयत्न होने चाहिए न कि घटने के लिए । इसलिए प्रयत्न करते समय सोचना चाहिए कि हमारा प्रयत्न हमें किस ओर ले जा रहा है । अस्तु ।

इस मन्त्र में कही हुई उन्नति निम्न मन्त्र के साथ तुलना करके देखनी उचित है :—

आप्यायया स्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया० ॥ यजु० ५।७ ॥

"हमारे मित्रों के साथ हमारी उन्नति और वृद्धि, बुद्धि और शक्ति के साथ २ करो" । अर्थात् हमारी बुद्धि और शक्ति बढ़ कर हमारी तथा हमारे मित्रों की वृद्धि और उन्नति हो ।

मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यताᳫं श्रोत्रं त आप्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां निष्ठ्यायतां ते शुध्यतु शं अहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳫं हिᳫंसीः ॥ यजु० ६ । १५ ॥

"तेरा मन, वाक, प्राण, चक्षु, श्रोत्र वृद्धि को प्राप्त होकर परिपूर्ण बन जाय । (अर्थात् कोई न्यूनता उन में न रहे) । जो कष्ट और न्यूनता उन में हो वह दूर हो जाय । वे सब शुद्ध होकर परस्पर सहकारी बने । (अर्थात् परस्पर द्वेष न रहे । सब दिन तुम्हारे लिए प्रसन्नता देने वाले हों । औषधियों से रक्षा हो (अर्थात् व्याधियां दूर हो जायें) । शस्त्र से हिंसा न हो (अर्थात् किसी के शस्त्र से निरपराधी को कष्ट न पहुंचे) ।

इस प्रकार उत्कर्ष और वृद्धि के लिऐं कहा हुआ है ।

उन्नति के लिये ही प्रयत्न होना चाहिए ऐसा कहने से अवनति की ओर जाना नहीं चाहिए ऐसा स्वयं सिद्ध हुआ । परन्तु उसी उपदेश को विशेष रीति से निम्न वाक्य में कहा है :—

[६] अहिंसा ।

(६)—(यूयं) अघ्न्याः (स्थ) ।

अर्थ—तुम (अघ्न्याः) हनन करने अयोग्य हो ।

भावार्थ—तुम्हारा हनन नहीं होना चाहिए । तुम्हारी हिंसा न हो ।

हनन, प्रतिबन्ध, अवनति, रुकावट ये सब भावार्थ से एक ही आशय बता रहे हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर में यही भाव प्रयमतः देखना चाहिए । कई लोग सन्त बनने का प्रयत्न करते हुए अपने हाथों को सुखाते हैं, कानों में डांटें रखते हैं, आंखों को फोड़ते हैं । ऐसा नहीं करना चाहिए । ऐसा करना धर्म नहीं । इन्द्रियों की उन्नति करनी चाहिए न कि उन को तोड़ मोड़ कर नष्ट करना चाहिए । यदि उन को तोड़ना होता तो परमेश्वर उन को न बनाता । पूर्ण परमेश्वर ने जो यह पूर्ण शरीर बनाया है, वह इसप्रकार तोड़ने, मरोड़ने सुखाने के लिए नहीं । परन्तु उस को पुष्ट और बलिष्ठ बनाकर पुरुषार्थ करके उन के द्वारा उन्नति प्राप्त करनी चाहिए ।

इसी प्रकार प्रजा भी हनन करने अयोग्य हैं । राजा को चाहिए कि वह प्रजाका हनन न करे, परन्तु उन की वृद्धि करता रहे । वृद्धि की कोई हद नहीं कि जहां वृद्धि समाप्त होती है । सदा उन्नत होते रहना

ही वैदिक धर्म के लिए अभीष्ट है। राजा का शरीर ही प्रजा है । जिस प्रकार हरएक व्यक्ति को अपनी शारीरिक उन्नति करनी है उसी प्रकार राजा को अपने शरीर रूपी प्रजा की उन्नति करनी चाहिए।

हनन दो प्रकार से हो सकता है एक बहुत कर्म करने से और दूसरा कर्म न करने से। बिलकुल विश्राम न लेता हुआ यदि कोई श्रम ही श्रम करता रहेगा, तो उस का नाश निश्चित है। तथा बिलकुल कर्म न करने से भी मृत्यु निश्चित है। इसलिए यथा योग्य प्रकार से कर्म करने चाहिए, जिस से उन्नति होने में रुकावट न हो।

जब राजा ने प्रजा को भोग के पदार्थ मिलने, प्रजा का बल बढ़ाने प्रजा का पुरुषार्थ बढ़ाने, प्रजा की वृद्धि करने तथा उन की नाश से रक्षा करने के लिए प्रयत्न किया, और इन प्रयत्नों से प्रजा की उन्नति होने में सहायता हो गई, तो प्रजा को भी उचित है कि वह राजनिष्ठ बनकर राजा को अपने प्राप्ति का भाग दें । जिस से राजा अपना कर्तव्य पालन कर सके । राजा का प्रजानिष्ठ होने का भाव पूर्व छः उपदेशों में आया है। अब प्रजा को राजनिष्ठ होने के लिए इस सातवें उपदेश में कहा है:-

[७] सेवा भाव ।

(७)--(यूयं) इन्द्राय भागं (नयत)।

अर्थ--तुम सब मिलकर (इन्द्राय) राजा के लिए अपना २ भाग ले जाओ।

भावार्थ--तुम सब को उचित है कि, तुम अपना भाग राजा के लिए दो। इन्द्रियां भी जीवात्मा के लिए अपना भाग ले जाय।

आधिभौतिक पक्ष में इन्द्र शब्द का अर्थ राजा है । राजा के लिए अपनी शक्ति का एक भाग देना प्रजा को उचित है । ज्ञान, शौर्य धन और सेवा भाव इन चारों से प्रजा राजा के लिए अपना अंश देती रहे । प्रजा की शक्ति का अंश लेकर ही राजा का सामर्थ्य बढ़ता है । और उस सामर्थ्य का उपयोग योग्य राजा प्रजा की शक्ति बढ़ाने के लिए करता है इस प्रकार यह चक्र चलता रहने से ही उन्नति होती है ।

आध्यात्मिक पक्ष में इन्द्र शब्द का अर्थ जीवात्मा है । जीवात्मा की प्रजा सब इन्द्रियां और शरीर हैं । इन्द्रियों द्वारा ज्ञान जीवात्मा के पास पहुंचता है और जीवात्मा की प्रबल इच्छा शक्ति से इन्द्रियों की गति ठीक चलती है ।

कानों से अच्छी बातें सुननी आंखों से अच्छे पदार्थ देखने, जिह्वा से अच्छे पदार्थ चखने, नाक से शुद्ध वायु को लेने, पावों से अच्छे स्थानों में भ्रमण करने, मुख से अच्छे शब्द बोलने, मन से अच्छे विचार करने से आत्मा के पास सुविचार का बल पहुंचता है । इस प्रकार इन्द्रियरूपी प्रजाओं से कर भार लेकर बलिष्ट हुआ २ आत्मा शरीर और इन्द्रियों की उन्नति के लिए यथायोग्य पुरुषार्थ करने के लिए समर्थ होता है । इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा आत्मा की तथा आत्मा द्वारा इन्द्रियों की उन्नति होती है चक्र अध्यात्म भूमि में घूम रहा है ।

राजा प्रजा, जीवात्मा इन्द्रियां, गुरु शिष्य, बलिष्ट निर्बल, विद्वान् अविद्वान्, धनि निर्धन, उच्च नीच इन के अन्दर भी यही चक्र चलना चाहिए । पहिले की सहायता दूसरे को और दूसरे की पहिले को होनी चाहिए । बलवान् शरीर वाला अन्धा और निर्बल शरीर वाला द्रष्टा एक दूसरे को सहाय करेंगे, तो कठिन मार्ग को पूरा कर सकते हैं । यही भाव यहां है ।

पाचवें उपदेश में वृद्धि को प्राप्त होने और छठे में प्रतिबन्ध—हनन-न करने का उपदेश है । उसी की पुष्टि के लिए निम्न लिखित आठवां उपदेश है :—

[८] प्रजोत्पत्ति और निरोगता ।

(८)--(यूयं) प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्मा (भवत) ।

अर्थ--तुम सब प्रजायुक्त, नीरोग और व्याधि रहित हो ।

भावार्थ—तुम सब मिलकर प्रजायुक्त हो जाओ तथा रोग रहित और व्याधि रहित हो जाओ ।

राजा की प्रजा प्रजायुक्त, अर्थात् सुयोग्य वीर सन्तति उत्पन्न करके बढ़ती रहे । तथा प्रजाजन मिलकर राजा के आश्रय से और राजा की शक्ति से ऐसा प्रबन्ध करे कि जिस से उन के अन्दर किसी प्रकार की बीमारी, आधि, व्याधि, रोग आदि की पीड़ा न हो । यह भाव आधिभौतिक पक्ष में होगया ।

अब आध्यात्मिक पक्ष में शरीर में देखना है शरीर (अन् + अमीव) नीरोग तथा (अ + यक्ष्म) राजयक्ष्मादि रोग रहित हो । सब इन्द्रियां रोग रहित होकर बलिष्ठ बन जांय । बहुत काल चलने वाले रोग यक्ष्म शब्द से तथा तात्कालिक रोग अमीव शब्द से ज्ञात होते हैं । इन दोनों प्रकार के रोगों से निवृत्त होने से आरोग्य सम्पन्न होना सम्भव है । इस प्रकार आरोग्य सम्पन्न होने के पश्चात् प्रजावान् बनना, पुरुषार्थ करके उन्नति को प्राप्त होना सम्भव है।

रोगों को दूर करने का यत्न व्यक्तिशः तथा संघशः होना चाहिए । तभी सब रोग दूर हो सकते हैं । शरीर, घर, ग्राम, नगर, प्रांत जबतक

रोग रहित तथा आरोग्य सम्पन्न न होगा तब तक कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता । शरीर के साथ मन बुद्धि की बीमारियों का भी ग्रहण करना उचित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियां प्रजायुक्त कैसी हो सकती है ऐसा यहां प्रश्न हो सकता है । उत्तर में निवेदन है कि ज्ञानेन्द्रियों की प्रजा ज्ञान है और कर्मेन्द्रियों की प्रजा कर्म है । ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर के पदार्थों का ज्ञान आत्मा की ओर पहुंचता है तथा जीवात्मा से प्रेरणा होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म अपनी तथा जनता की उन्नति के लिए होता है। इस प्रकार एक इन्द्रिय से अन्दर की ओर प्रवृत्ति और दूसरे इन्द्रिय से बाहर की ओर प्रवृत्ति होकर इस देह चक्र की गति ठीक चलती है। इस चक्र को इस प्रकार चलाते रहने से इन्द्रियां फलवती, सफल, सुफल अर्थात् प्रजावान होती है। यही भाव यहां है।

जैसा शासक होता है वैसा शासन होता है शासक अच्छा धर्मात्मा हो तो प्रजा अच्छी बनती है परन्तु शासक बुरा होने से प्रजा भी बुरे ख्यालवाली होती है। इसलिए सूचना दी है कि चोर का शासन स्वीकार नहीं करना :—

[६] चोर के शासन का निषेध ।

(६)—स्तेनः वः मा ईशत ।

अर्थ—(एक) चोर तुम (सब) पर शासन न करे।

भावार्थ—एक चोर का शासन तुम सब पर न हो। किसी चोर के आधीन तुम न रहो। चोर का शासन तुम न मानो।

एक चोर के शासन के नीचे बहुत अच्छे आदमी न रहे। शासक

चाहिए परन्तु वह धर्मात्मा हो । अराजकता इष्ट नहीं परन्तु धर्मात्मा राजा का शासन ही मानने योग्य है । हे सब भूमण्डल के ऊपर संचार करने वाले मनुष्यों ! तुम्हारी सम्मति के बिना तुम सब पर यदि कोई अधार्मिक पुरुष शासन चलाने का यत्न करे, तो उस का तुम स्वीकार न करो । यह भाव आधिभौतिक अर्थ से आता है ।

अब आध्यात्मिक अर्थ देखना है । आध्यात्मिक अर्थ में एक विशेष गौरव-युक्त अर्थ ही प्रतीत होता है । पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार यह अन्तःकरण चतुष्टय इन का राज्य (इन देवों का राज्य) अपने शरीर में हैं । इस का राजा जीवात्मा बड़ा प्रेमी और भक्त है । इस के राज्य में घुसने के लिए कुविचार आदि तय्यार बैठे हुए हैं । चोरी से, छिप छिप कर इन अनेक कुविचारों में से एक अन्दर आता है, नम्रता पूर्वक अन्दर रहने का यत्न करता है, अपने आप को अधिक लाभदायक बताता है । और आहिस्ते २ सब को अपने वश में कर लेता है । जब एक समय किसी एक कुविचार के आधीन मन हो जाता है तो शेष कुविचार भी उसी के वसीले से अन्दर आ जाते हैं । इस प्रकार सुविचारों का पराभव करके कुविचार अपना प्रभाव जमा-लेते हैं और आनन्द नगरी में क्लेशों, आधियाधियों तथा नाना अवनतियों का प्राबल्य होता है । इन को इस समय हटाना बड़ा कठिन है । इस लिए प्रारम्भ से ही इन में से किसी को अन्दर नहीं आने देना चाहिए । इन के साथ प्रबल युद्ध करके इन को सदा दूर करना चाहिए । आगे जाकर पछताना न पड़े, इसलिए इस मन्त्र में कहा है कि, " तुम्हारे ऊपर चोर हुकूमत न चलावे " अर्थात् कुविचार, कुसंस्कार आदि चोर तुम्हारा स्वामी न बने । इन को चोर इसलिए कहा है, कि ये जिस समय प्रथम आते हैं उस समय इन के वास्तव रूप का पता तक नहीं लगता । परन्तु कालान्तर से इन के भयानक स्वरूप का पता लगने लगता है,

जिस समय अवनति का प्रतिबन्ध करना असम्भव होता है। इसलिए हरएक को प्रति सावधान रहना चाहिए।

इस के साथ निम्न मन्त्र की तुलना कीजिए :—

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ उत।

हनुभ्यांस्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्॥

"हे (भगवन्) ईश्वर! दंष्ट्राओं से (मलिम्लून्) ठगों को, दांतों से (तस्करान्) लुटेरों को, हनु से (स्तेनान) चोरों को तथा (सुखादितान्) सुख अर्थात् इन्द्रिय भोगों (सुख + आदित) को मुख्य मानने वालों को नष्ट भ्रष्ट कर, अथवा (सु + खादितान्) अच्छी प्रकार नष्ट किए हुओं को फिर नाश कर, जिस से कि वे फिर न उठ सकें।

यहां दंष्ट्रा, दांत हनु आदि से नाश करने का विधान आलङ्कारिक है। समाज को उपद्रव देने वाले चोर आदिकों का पूर्णतया नाश करना चाहिए यही तात्पर्य है।

उक्त उपदेश की पुष्टि अगले उपदेश ने की है :—

[१०] पापी के शासन का निषेध।

(१०) अघ-शंसः वः मा ईशत।

अर्थ—(अघ-शंसः) जिस का नाम पाप से कलंकित हुआ हो वह तुम्हारे ऊपर शासन न करें।

भावार्थ—पाप भावनाओं को धारण करने वाला दुराचारी तुम्हारा शासक न हो।

आधिभौतिक अर्थ में समाज या राष्ट्र का, इस प्रकार के पाप भावना धारण करने वाले अधिकारी होने से, निश्चय से नाश होता है । वही अधिकारियों के दुर्गुण प्रजाओं में आते हैं और दोनों का साथ साथ ही नाश हो जाता है । यह बात इतिहास से भी सिद्ध है ।

आध्यात्मिक अर्थ में पापों का विचार वैसा ही घातक होता है, जैसा कुविचार घातक होता है । इस का विचार पूर्व उपदेश में आ चुका है । इसलिए यहां इस का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं । अस्तु ।

इस के साथ निम्न मन्त्र देखने योग्य है :--

मा त्वा परि-पन्थिनो विदन्
मा त्वा वृका अघायवो विदन् ॥ यजु० ४ । ३४ ॥

"तुम को (परि-पान्थिन:) मार्ग छोड़ कर चलने वाले तथा (अघ + आयवः) पापी जीवन वाले (वृकाः) भेड़िये के समान क्रूर (मा विदन्) न जाने ।

अर्थात् पापी जीवन वाले तथा सच्चा मार्ग छोड़ कर कुमार्ग से जाने वालों के पास कोई भी न जाय । न उन से कोई दोस्ती करे । "अघ-शंस" के साथ "परिपन्थी, अघायु" इन की तुलना करनी चाहिए ।

इस प्रकार बुरे शासन का निषेध करके अच्छे शासक के साथ मिलकर रहने का उपदेश निम्न उपदेश में किया है :--

(११) पालक के साथ स्थिर रहना ।

(११)--अस्मिन् गो-पतौ बह्वीः ध्रुवाः स्यात ।

अर्थ—(अस्मिन) इस (गो-पतौ) पृथ्वी के पालन करने वाले के शासन में (बह्वीः) बहुत और (ध्रुवाः) स्थिर (स्यात) हो जाओ।

भावार्थ—जो सच्चा पालन कर्ता हो, उस के शासन में उन्नति को प्राप्त होकर बढ़ते हुए स्थिर होकर रहो ।

आधिभौतिक अर्थ में, जो प्रजापालन तत्पर शासक हो उस के साथ मिलजुल कर स्थिर रहना चाहिए । उस का कभी विरोध नहीं करना चाहिए, ऐसा उपदेश इस वाक्य से दीखता है ।

आध्यात्मिक अर्थ में " गो-पति " का " इन्द्रियों का स्वामी " ऐसा अर्थ है । जो इन्द्रियों का यथायोग्य पालन पोषण कर्ता हो, उस के साथ सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त होतीं हुई, आमरणान्त (ध्रुवाः अर्थात्) स्थिर रहेंगीं । ऐसा इस का आशय होगा । परन्तु जो इन्द्रियों का ठीक प्रकार पालन नहीं करेगा, उन की इन्द्रियां थोड़ी आयु में ही निरुपयोगी हो जायगीं । इन्द्रियों का पालन पोषण योग्य आहार विहार, योग्य व्यवहार, योग्य रीति से ब्रह्मचर्य्य का पालन आदि से होता है ।

(१२) रक्षण के लिए प्रार्थना ।

(१२) यजमानस्य पशून् पाहि ।

अर्थ—यजमान के पशुओं की रक्षा करो ।

यह एक बड़ा विलक्षण और बड़ा व्यापक उपदेश इस मन्त्र में आया है । अब इस का विचार करना है ।

जो यज्ञ करता है, उस को यजमान कहते हैं । यज्ञ वह होता है, कि जिस में (१) (देव-पूजा) विद्वान, पूजनीय, सत्कार करने योग्य आप्त पुरुषों का सत्कार, (२) (संगति-करण) मैत्री करनी, परस्पर सङ्गठन बढ़ाना, विद्वानों के साथ संगति करनी, मिलाफ करना; और (३)

(दान) परोपकार करना, दान देना, दूसरों के लिए आत्मार्पण करना । ये तीन कार्य जिस में होते हैं वह यज्ञ कहलाता है । विद्वानों का सत्कार मैत्री तथा परोपकार ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं । इस प्रकार का यज्ञ जो करने वाला होता है उस का नाम यजमान हुआ करता है ।

अध्यात्मपक्ष में "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य आत्मा यजमानः" (तै० प्र० १० । ६४) इस उपनिषद्वचन के अनुसार इस जीवन रूप यज्ञ में आत्मा यजमान है । जीवात्मा यजमान हुआ । इन्द्रियां इस के पशू हैं । (इंद्रियाणि हयान्याहुः" इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं) । (कठ उ० ३।४ इस उपनिषद् के अनुसार जीवात्मारूपी यजमान के सहायक इन्द्रियगण पशू हो गये । इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाला " गो " शब्द जैसा इन्द्रिय वाची वैसा गाय का वाचक भी है । इस प्रकार अध्यात्मपक्ष में "जीवात्मा से इन्द्रियों की रक्षा करो" ऐसा अर्थ हुआ ।

आधिभौतिक पक्ष में अश्वमेधादि यज्ञ करने वाला राजा यजमान है । "राष्ट्र वा अश्वमेधः" इस शतपथ ब्राह्मण के वचन से राष्ट्र, राज्य, राज्यशासन ही अश्वमेध है । उस यज्ञ में राजा ही यजमान है । तथा अन्य राजपुरुष ऋत्विज कहलाते हैं । परन्तु इस राज्यशासन को "राज्य-शकट " माना जाय तो उस को चलाने वाले सब राज पुरुष पशु माने जायेंगे । जिस प्रकार शरीर को रथ मानने से इन्द्रियों को घोड़े मान लिए उसी प्रकार राष्ट्र को रथ मानने से राष्ट्र चलाने वाले सब ओहदेदार घोड़े मानने पड़ेंगे । यह एक अलङ्कार है । पशु शब्द का मूल अर्थ (पश्यति इति पशुः) जो देखता है वह पशु ऐसा है । देखने वाला द्रष्टा यही पशु शब्द का मूल धात्वर्थ है । इसी कारण इन्द्रियों के लिए पशु शब्द प्रयुक्त होने लगा, क्योंकि इन्द्रियां देखतीं हैं । राजपुरुषों के लिए आधि-भौतिक पक्ष में पशु शब्द आया, इसलिए कि वे प्रजा का सम्पूर्ण व्यव-

हार देखते हैं । परमेश्वर सम्पूर्ण जगत का द्रष्टा होने से उस को भी पशु शब्द प्रयुक्त होने लगा । पश्चात् उपहास से हैवानों के लिए पशु शब्द प्रयुक्त होने लगा, क्योंकि वे भी देखते हैं, परन्तु समझते नहीं इसलिए उपहास के लिए जो वहां नियुक्त हुआ परन्तु अन्त में वह वहां ही दृढ़ हो गया । अस्तु । इस प्रकार "राजा के राजपुरुषों का रक्षण करो" ऐसा इस पक्ष में भाव प्रकट होता है ।

रूढ अर्थ में पशु उस से कहते हैं कि जो दूसरे की बुद्धि से कार्य करने वाला हो । इस अर्थ से मनुष्य के लिए भी पशु शब्द आता है । जो स्वयं निर्बुद्धि होता हुआ दूसरे की प्रेरणा से ही कार्य करता है, जैसी जिस समय तक प्रेरणा होती रहेगी वैसा उस समय तक कार्य करता है, इस प्रकार के मनुष्य को पशु कहते हैं । अध्यात्मपक्ष में इन्द्रियां आत्मा –(जीवन-शक्ति) की प्रेरणा से कार्य करती है, स्वयं कार्य्य करने में असमर्थ है इसलिए पर प्रेरणा का भाव इन्द्रियों में ठीक घटता है । आधिभौतिक पक्ष में राजपुरुष राजा की प्रेरणा से तथा लोक-सभा की प्रेरणा से अपने २ ओहदेदारी का कार्य करते हैं जबतक जैसी प्रेरणा होती रहेगी तबतक वैसा कार्य करेंगे । मना करने पर अपने कार्य से निवृत्त होंगे । ठीक शरीर में इन्द्रियों की तरह राष्ट्र में ओहदेदार हैं । इसीलिए पर प्रेरणानुकूल कार्य करने की दोनों स्थानों में समानता ही है और इसी कारण दोनों स्थानों में पशु शब्द का समान ही प्रयोग है ।

जैसा इन्द्रियों का स्वार्थ शरीर नाशक वैसा ही राजपुरुषों का स्वार्थ राष्ट्र नाशक होता है इत्यादि दोनों की समान २ अन्य बातें विचार की दृष्टि से देखने योग्य हैं । अस्तु ।

यह मन्त्र गो आदि पशु विषयक उपदेश भी बताता है । जैसा:–

१—गौं आदि पशुओं के लिए भक्ष्य प्राप्त हो ;

२—बल प्राप्त हो ;

३—वे वायुरूप, गतिरूप, बलरूप हैं ;

४—परमेश्वर उन को अच्छे कर्म में प्रयुक्त करे ;

५—उन की वृद्धि होती रहे ;

६—वे काटने योग्य नहीं ;

७—स्वामी के लिए दुग्ध आदि भाग देने वाले हों ;

८—निरोग और यक्ष्म रहित होकर बाल बछड़ों से युक्त हों ;

९—चोर के काबू में न जाय ;

१०—पापी (कसाई आदि) के वश में न फंसे ;

११—गो पालक स्वामी के पास बहुत होकर स्थिर रहें ;

१२—गो पालक यजमान के पशुओं की रक्षा हो ।

इस प्रकार पशु विषयक भाव है । यहां आशय बताया है । शब्दार्थ पूर्व स्थान पर जो दिया है वही यहां है । इस प्रकार मन्त्र की उपदेश की शैली देखने योग्य है । पाठक बहुत सोच कर, विचार कर, अन्यान्य उपदेश ग्रहण करें, और अपना और दूसरों का भला करके, अभ्युदय प्राप्त करें ॥

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

—oo:o:oo—

के लि
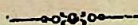
कल्याण का मार्ग।

(१) [illegible] का स्वाध्याय—(पं०

इस को पढ़ कर प्रत्येक नरनारी अपने

मूल्य सजिल्द १)

(२) सच्ची शांतिका सच्चा उपाय—वि

(३) सर्व-पूज्यकी पूजा—(पं० सातवले

(४) ईशोपनिषद का स्वाध्याय—उपनि

लिए इस का स्वाध्याय आवश्यक है। मूल्य ॥=)

(५) संस्कृत स्वयं शिक्षक—प्रथमभाग १) द्वितीयभाग १)

(६) गुरुदत्त लेखावली—पं० गुरुदत्तजी एम.ए. की अंग्रेजी पुस्तकों का आर्य्यभाषा अनुवाद (जीवन चरित्र सहित) वैदिक सिद्धान्तों को समझने के लिए इस पुस्तक का स्वाध्याय आवश्यक है। मूल्य २)

(७) भक्ति दर्पण या आत्म-प्रसाद—भक्ति मार्ग के सब साधन इस में वर्णन किये गये हैं। मूल्य ।≈)॥

(८) सन्ध्या योग—(स्वामी सत्यानन्दजी कृत) मूल्य ।)

इनके अतिरिक्त हमारे यहां महर्षि दयानन्द, पं०लेखराम स्वामी श्रद्धानन्द, पं० आर्य्यमुनि, पं० राजाराम, पं० तुलसीराम, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ और अन्य आर्य्य विद्वानों की सब पुस्तकें रियायत से मिल सकी हैं। आर्य्य-समाजों और पाठशालाओं के प्रवेश पत्र और रसीदबुकें भी मिल सकती हैं सूचीपत्र मुफ्त मिल सकता है।

मिलने का पता—

राजपाल—मैनेजर

आर्य्य पुस्तकालय, लाहौर।